परिशिष्ट

मेरा बचपन

मेरा जन्म 1 मई 1935 को उत्तर प्रदेश के पर्वतीय अंचल अल्मोड़ा जिले के जोस्यूड़ा (जोशियों का गाँव) नामक गाँव में हुआ था। मेरे पिता स्वाधीनता-संग्राम से सक्रिय रूप से जुड़े थे। कई बार उन्हें जेल-यात्राओं में जाना पड़ा तथा उनके ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष के कारण परिवार के लोगों को भी अनेक यंत्रणाएँ झेलनी पड़ीं।

गाँव में खेती होती थी। थोड़ा व्यापार भी था। संयुक्त परिवार होने के कारण सारे कार्य चलते रहते थे। पिताजी की जेल-यात्राओं का कुछ प्रभाव तो घर के कामों में पड़ता था, किन्तु बहुत बड़ा आर्थिक संकट नहीं झेलना पड़ता था।

पैदा तो अवश्य मैं जोस्यूड़ा गाँव में हुआ, किन्तु बचपन का सारा समय बीता खेतीखान Khetikhan नामक छोटे से कस्बे में। यह स्थान जोस्यूड़ा से लगभग तीन मील दूर था। लोहाघाट से अल्मोड़ा जाने वाली सड़क के किनारे। यहाँ मिडिल स्कूल तक शिक्षा थी। डाकखाना था। बाजार में कुल 20 - 25 छोटी - बड़ी दूकानें थीं।

यहाँ भी हमारा मकान था। खेत थे। दूकान थी, जिसमें कपड़े के अलावा दैनिक उपयोग की सामग्री भी बिकती थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न परिवार था। सामाजिक प्रतिष्ठा भी थी। पिताजी बड़े उदार थे। जितना कुछ बन सकता था, सब जरूरतमन्दों की सहायता करते थे। उनका सारा जीवन देश-सेवा में बीता। सन 1941 में जब मैं मात्र 7 साल का था, कानपुर में उनका देहान्त हो गया।

चूँकि संयुक्त परिवार था, इसलिए हमारा भरण-पोषण ठीक ढंग से चलता रहा, किन्तु धीरे-धीरे अनेक कठिनाइयाँ उभरने लगीं। कारोबार शिथिल हो गया। आय के साधन सीमित होने लगे, और दायित्व निरन्तर बढ़ते चले गए। इससे हमारे संघर्षों का एक नया दौर आरम्भ हो गया। इन संघर्षों ने मुझे बहुत कुछ सीखने का अवसर दिया।

संघर्ष, अभाव कभी वरदान भी सिद्ध होते हैं, आज जब सोचता हूँ तो लगता है, यदि मैंने बचपन में अनेक कठिनाइयाँ न झेली होतीं, तो शायद मेरे लेखन में संवेदनाओं की तीव्रता कभी भी न आ पाती। भावुक तो मैं था ही जन्म से, किन्तु परिस्थितियों ने उसको एक आयाम देकर मुझे कृतार्थ किया। अभाव क्या होता है? उपेक्षा का दंश कितना पीड़ाप्रद होता है? मैंने समय से पहले ही, जिंदगी की पाठशाला में पढ़ लिया था।

खेतीखान के मिडिल स्कूल की पढ़ाई पूरी करके मैं वहाँ से लगभग 60 मील दूर नैनीताल पढ़ने के लिए गया। तब मोटर मार्ग नहीं थे। पैदल ही प्रायः जाना होता था। यह बात है 1948 की।

नैनीताल 5 साल रहा। आर्थिक अभावों के कारण आगे विद्यालय में विधिवत पढ़ पाना सम्भव न रहा तो शेष पढ़ाई प्राइवेट Private परीक्षाओं से पूरी करता रहा।

टनकपुर (नैनीताल जिले में एक कस्बा है, नेपाल की सरहद पर) में कुछ समय अध्यापकी की। यहाँ भी हमारा पुश्तैनी मकान था। दुकानें थीं। बगीचा तथा फार्म था। धीरे-धीरे ये सब बिक गए। मैं तब पढ़ाने के साथ-साथ ट्यूशनें भी किया करता था।

नौकरी के लिए जिन जिन प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठा, सब में मेरा चुनाव हो गया। परन्तु मेरे मन में शायद कुछ और ही करने का इरादा पनप रहा था। मुझे ये सब निरर्थक लगने लगे। हाँ, विश्वविद्यालय में विधिवत पढ़ने की बड़ी लगन थी, जो संघर्षों के कारण कभी भी पूरी न हो पाई। पता नहीं, लेखक बनने के वर्षों बाद भी मैं सपने देखता रहा कि जैसे मैं परीक्षा दे रहा हूँ या किसी विश्वविद्यालय में दाखिला ले रहा हूँ।

आज मुझे लगता है कि यह अच्छा ही हुआ। मेरी मौलिकता, मेरा मौलिक चिंतन बरकरार रहा। मैंने इतना अधिक इस बीच पढ़ा, कि सारी सम्भावनाएं पूरी हो गईं।

सन 1948 में गाँधी जी का देहान्त हुआ, तब मैंने पहली कविता लिखी थी। सातवीं कक्षा का छात्र था। उम्र थी कोई 13-14 साल।

उसके पश्चात वर्षों तक कविताएँ लिखता रहा। एक तरह का यह पागलपन जैसा ही था कि परीक्षा के दिनों में भी रात को जाग कर कविताएँ लिखा करता था।

फिर सहसा एक दिन कहानियों का दौर शुरू हुआ तो वह धुआँधार चलता रहा है — आज तक।

जब रतनपुर में पढ़ रहा था, महापंडित राहुल सांकृत्यायन की आत्म-कथा 'मेरी जीवन यात्रा' पढ़कर इतना प्रभावित हुआ कि जीवन में कुछ करने के लिए निकल पड़ा। लिखने-पढ़ने की उत्कट लालसा एक दिन मुझे दिल्ली ले आई। दिल्ली में न रहने की ही कोई उचित व्यवस्था थी, न रोजी-रोटी की। रतनपुर से बिना त्यागपत्र दिए ही मैं चला आया था। मिल में काम करनेवाले एक रिश्तेदार के साथ पर रह रहा था। दिल्ली आते ही, जिस मकान में रिश्तेदार के साथ रह रहा था, उसके मालिक की जमानत दिला कर 'दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी' का सदस्य बन गया। और अपने नाम से दो कार्ड बनवा लिए। एकाध ट्यूशनें करता, दिन भर पुस्तकालय में बैठ कर लेख लिखता। शाम को प्रायः पैदल सात-आठ मील चल कर डेरे पर पहुँचता। वहाँ जो समय बचता कहानियाँ लिखा करता था।

उन दिनों दिल्ली से 'नवनीत' की तरह एक हिंदी डायजेस्ट 'इन्द्रधनुष' प्रतिमाह प्रकाशित होती थी। उसके लिए हर महीने आठ-दस लेख विविध विषयों पर लिखता। अच्छी कहानियों के अनुवाद तैयार करता। सम्पादक बड़े सहृदय थे। उन्होंने उप सम्पादक के रूप में मेरा नाम प्रकाशित किया था। जहाँ तक वेतन का सवाल था, वह कुछ भी मिलता न था। सम्पादक ने कहा था — पत्रिका घाटे में निकल रही है। मैं भी अवैतनिक काम कर रहा हूँ। आप भी कीजिए। कभी पत्रिका से कुछ आमदनी होने लगेगी तो आप-हम दोनों उसके अधिकारी होंगे।

इन्हीं संघर्ष के दिनों में मैंने अपनी कहानी 'बुझे दीप' लिखी थी, जो किसी राष्ट्रीय हिंदी दैनिक पत्र के 'रविवासरीय' में छपी थी। इन्हीं दिनों 'इन्द्रधनुष' में 'निर्वासित' नाम से लियो टालस्टाय की कहानी The long Exile का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हुआ था। मेरी अनूदित यह पहली प्रकाशित कहानी थी। और 'बुझे दीप' पहली मौलिक कहानी जो प्रकाशित हुई थी।

बचपन से ही मेरे मन में कुछ असाधारण-सा करने का संकल्प था। अस्पष्ट भान था। चित्रकारी का भी बड़ा शौक था। बचपन से ही चित्र बनाया करता था। इच्छा थी कि लखनऊ आर्ट कालेज में 5 साल का पाठ्यक्रम पूरा करूँ। या फिर एक और आकांक्षा — 'शांति निकेतन' में पढ़ने की। परन्तु यह साध पूरी न हो पाई — अनेक अभावों के कारण। अभिनय का भी शौक था। नाटकों में भाग लेता था। कई पुरस्कार भी जीते, परन्तु इस दिशा में भी आगे बढ़ने का मार्ग मिल न पाया। जहाँ तक लिखने का शौक था, यह विशुद्ध मेरे मन था। इसके लिए किसी साधन की भी

आवश्यकता न थी। लिखने लगा था, खूब मेहनत की। एक ही रचना को बार-बार लिखता। काटता। सुधारता। जब तक वह मेरे मन के मुताबिक न होती, यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती। यह आदत आज भी उसी तरह कायम है।

लेखन के क्षेत्र में मेरा मार्ग निरन्तर प्रशस्त होता चला गया, लगातार लिखता रहा हूँ। कहानियाँ, उपन्यास, यात्रा-वृत्तान्त, कविताएँ, संस्मरण, साक्षात्कार। शायद ही कोई क्षेत्र छूटा हो।

अनेक संघर्ष किए। गत 22 साल से पत्रकारिता में हूँ, लिख भी रहा हूँ।

1965 में मेरा पहला कहानी-संग्रह 'अन्ततः' प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष पहला उपन्यास 'बुराँश फूलते तो हैं!' (जो बाद में 'अरण्य' नाम से छपा) प्रकाश में आया। 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' का पुरस्कार भी इसे मिला। इन्हीं दिनों बच्चों के लिए भी लिखता रहा। 'तीन तारे' नाम से एक बाल-उपन्यास लिखा जो इलाहाबाद से प्रकाशित बाल मासिक पत्र 'मनमोहन' में धारावाहिक रूप से छपा था। यह सम्भवतः पहला बाल-उपन्यास था जो धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था।

दिल्ली आने पर हिन्दी के प्रायः सभी लेखकों का स्नेह मिला। जैनेन्द्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, वृंदावनलाल वर्मा — अमृतलाल नागर → नामों की एक लम्बी कतार है।

दिल्ली में पठन-पाठन का भी क्रम चलता रहा। थोड़ी-सी जर्मन सीखी। तिब्बती सीखी। बांगला सीखी। गुजराती, नेपाली का भी कुछ अभ्यास किया। Painting का भी कुछ प्रयास चला। किन्तु समय की कमी से रह गया।

हिमांशु जोशी

मेरे सरोकार

[illegible]

1

हर वस्तु का आदि होता है, और कहीं अन्त भी। पर मुझे लगता है कभी-कभी कि जीवन का न तो कहीं आरम्भ है और न कहीं अन्त ही। एक अंतहीन-यात्रा प्रवाह का यह एक काल-खण्ड है। शायद इसी रूप में इसे लेना और इसे जीना अधिक श्रेयस्कर है।

आगा खाँ पैलेस जेल में मृत्यु से कुछ दिन पूर्व तक कस्तूरबा को गाँधीजी नारंगी के दाने में, रेखाएँ खींच कर अक्षांश और देशान्तर समझाते थे। कौन-सा देश कहाँ है? किस देश की राजधानी का नाम क्या है? विस्तार से बतलाते थे।

विनोबा भावे अपने अन्तिम दिनों में जापानी भाषा सीख रहे थे।

95 वर्ष की अवस्था में आचार्य काका कालेलकर आतशी शीशे की सहायता से शब्द कोश में एक-एक शब्द का अर्थ खोजते थे। मानचित्र में एक-एक स्थान ढूँढते।

आखिर क्यों?

शायद निरन्तर परिमार्जन का ही दूसरा नाम जीवन है। इसलिए कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, अगली यात्रा का आरम्भ है।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो अतीत के कई चल-चित्र सामने घूमने लगते हैं। सब से पहले दीखते हैं, दूर-दूर छितरे पर्वतीय गाँव। उस पार बर्फीले पहाड़ों की झालर। एक सीमाहीन विस्तार लिए धुंधला, नीला क्षितिज — शून्य में कहीं विलीन होने के लिए आतुर।

सामने हरी-भरी घाटियाँ। गहरे हरे घने जंगल। टेढ़ी-मेढ़ी धूलभरी कच्ची पगडंडियाँ। दिनों तक लगातार बरसते बादल। नदी की घाटियों से उभरता ठण्डा कुहासा। सूरज खोजने पर भी कहीं

धारतता न था। उस पर भूल से कहीं झलक जाता तो कितना मीठा लगता। पीली-पीली धूप ~~[illegible]~~ कितनी अच्छी। उस में ताप नहीं, मात्र ताप का जैसा अहसास ही होता।

जाड़ों में जब चारों ओर सफेद बर्फ की चादर बिछती तो मन सचमुच कितना आह्लादकारी होता। इतनी ठण्ड, इतनी ठण्ड कि पेड़ों की पत्तियाँ तक ठिठुरने लगतीं। पानी जम जाता, तब बर्फ को आँच पर पिघला कर हम पानी बनाकर पीते थे।

सच, कितने अच्छे दिन थे वे! जब किसी भी चीज की कोई चिन्ता न थी। चारों ओर खुशी ही खुशी! न वर्तमान का संकट, न भविष्य की आशंका। यह नन्हा संसार ही तब अपना समूचा ~~ब्रह्माण्ड~~ संसार था। जहाँ फूल ही फूल थे, कहीं ढूंढे से भी कोई काँटा नहीं...

ऐसे वातावरण में बीता था बचपन। कुमाऊँ की रूपहली पहाड़ियों में।

सीढ़ीनुमा खेत! अँधेरे, घने वनों ~~[illegible]~~ में दिन-दोपहर बाघ-भालू सीना ताने निर्द्वन्द्व घूमते। किसी को भी उठाना और उठा कर ले जाना, आम बात थी। जिम कार्बेट की आखेटस्थली यही थी। यहीं देवी का देवी सिंह था और यहीं था कार्बेट का 'मैन ईटर ऑफ चम्पावत'! जिस पर बनी हॉलिवुड की फिल्म बर्मी बाय क[illegible] नैनीताल में देखी थी। उस में जंगल तो थे, पर हमारे यहाँ जैसे जंगल नहीं। न वैसे घर, न गाँव, न गधेरे। लगता था, अफ्रीका का में कहीं कुमाऊँ खोज लिया था उन्होंने। ~~[illegible]~~

~~मैं ऐसी प्रतिक्रिया [illegible] पर सिनेमा हाल में बैठे मेरे साथी ने हाथ [illegible] हुए [illegible], जो आज तक याद है, 'यार, यह फिल्म है [illegible]। फिल्म तो फिल्म ही जैसी होने वाली इसीलिए तो साली फिल्म कहलाती है...' उसकी दार्शनिक~~

(और [illegible])

~~आज भी स्मृति-पटल पर अंकित है कहीं।~~

अक्षर ज्ञान जब आरम्भ किया
की 'पाटी' लिए पढ़ने के लिए पाठशाला जाते और दो दूनी चार का पहाड़ा गला फाड़-फाड़ कर चीखते हुए दोहराते। पर आज लगता है, दो दूनी चार का अर्थ जीवन पर्यन्त कभी सही अर्थ में समझ में आया नहीं। सर्वत्र पौने ही रहा या मात्र तीन ही। चार से साक्षात्कार कभी नहीं हुआ। वर्षों बाद जब पंख कुछ-कुछ उग आए तो घोंसले से बाहर झाँकना शुरू किया। अब तक घोंसला ही ब्रह्माण्ड था, तब कभी सोचा नहीं था कि ब्रह्माण्ड ही कभी घोंसले का पर्याय भी बन जाएगा ...

वर्षों बाद जब मेरा 'दिल्लीवास' हुआ तो वे पहाड़, वे झरने, वह हिम शीतल बयार, जो कभी शरीर को धार की तरह छीलती थी, उसकी स्मृति ही कहीं सुख का अहसास जतलाने लगी। ~~[illegible]~~ शहर का क्लोरीन मिला स्वादरहित नल का पानी पीते लगा कि नहीं पानी का भी अपना कोई स्वाद होता है। हवा भी मात्र हवा नहीं होती, उसमें भी एक प्रकार की जीवन दायिनी गन्ध होती है। लू के थपेड़ों से झुलसा तन, झुलसा मन बार-बार पहाड़ों की छाँह के लिए तरसता... पर इतनी लम्बी बाँहें कहाँ कि उन्हें छू पाता।

चलने का नाम ही जीवन है न। चलते-चलते आज दिल्ली-प्रवास के ही चालीस साल बीत गए। [illegible] पर पता नहीं, मन बार-बार क्यों करता है, वहीं लौट जाने को, जहाँ से चले थे, कभी रंग-बिरंगे सपने संजो कर। कुछ न कुछ तो कहीं मिल ही जाता है न जीवन में। फिर भी कहीं कुछ अधूरा-सा ही क्यों रह जाता है?

[illegible] ...क्योंकि आत्मा में आनन्द कम नहीं होता! ... [illegible]

पर उम्र के इस पड़ाव पर आकर आज लगता है, सारा खेल मन का ही तो है न। पाँच-दस पुस्तकें और जुड़ जाएँगी खाते में तो क्या होगा? दो-चार और भौतिक संस्थाएँ! क्या जीवन का अर्थ मात्र यही है?

इन नग्न नेत्रों से जितनी धरती दीखती है, जितना अंतरिक्ष, उसका विस्तार उससे कहीं अधिक होता है न! पर मनुष्य का अंकगणित कुछ और ही होता है शायद। जो उपलब्ध न हो, वही उसे दुर्लभ लगता है। इसलिए अधूरे सपनों की भी अपनी अहमियत रहती है।

मुझे याद आता है, कनॉट प्लेस स्थित होटल यार्क। माचवेजी तब यहाँ किराए पर स्थायी रूप से रहते थे। राहुलजी उनके यहाँ ठहरे थे। मैं उनसे मिला तो बोला, 'आपकी पुस्तक 'मेरी जीवन यात्रा' पढ़ी थी। उसने इतना प्रभावित किया कि मैं भी निकल पड़ा था, यों ही अनजाने, अनदेखे में। नवाजिंदा बाजिन्दा का शेर 'सैर कर दुनिया की गाफिल...' मेरा भी जीवन-मंत्र बन गया...।'

शायद वह पहली और अन्तिम पुस्तक थी, जिसने इतना प्रभावित किया। कई बार उसे पढ़ा और हर बार कुछ न कुछ नया करने के लिए प्रेरित होता रहा। मुझे लगता रहा कि जैसे इस यात्रा में मैं भी कहीं सहभागी रहा। उनके साथ कदम पर कदम मिला कर, मध्य एशिया, तिब्बत, लाहौल-स्पीती, नेपाल आदि स्थानों की यात्राएँ करता रहा। डे-पुङ, सेरा, गन्दन, सास्क्या के बौद्ध-विहारों को जैसे मैंने भी अपनी आँखों से देखा।

बरसों बाद तिब्बत की पृष्ठभूमि पर मैंने एक छोटा-सा उपन्यास 'अग्नि-सन्तान' लिखा और उसकी पाण्डुलिपि भारत में रह रहे, हिन्दी जानने वाले किसी तिब्बती विद्वान को पढ़ने के लिए दी,

तो वह किसी भी तरह यह मानने को तैयार नहीं थे कि मैंने तिब्बत नहीं देखा है। क्योंकि उनका कहना था कि जिन स्थानों का जो चित्रण मैंने किया है, बिना वहाँ गए कोई कर ही नहीं सकता।

आज इस बात को भी लगभग 35 साल से अधिक हो गए होंगे। वह शायद 1954 का वर्ष था, जब मेरी पहली कहानी छपी थी। तब से किसी न किसी रूप में लिखने का क्रम निरन्तर चलता रहा। पुस्तकें भी छपीं। कुछ पुरस्कार भी मिले, पर मेरे लिए सब से बड़ी उपलब्धि है, पाठकों का निर्व्याज, निश्छल स्नेह। इस दृष्टि से मैं स्वयं को सौभाग्यशाली समझता हूँ। सन 1972-73 में 'छाया मत छूना मन' उपन्यास 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के विशेषांक में छपा तो अनेक शंकाएँ थीं मन में। नया-नया गया था, अपना ही उपन्यास छाप दिया। कहीं विफल रहा तो कितनी बदनामी होगी। किन्तु छपते ही पाठकों के पत्रों का जो अम्बार लगा, वह स्वयं मेरे लिए कम विस्मय की बात न थी। इतने पत्र शायद ही किसी रचना पर कभी आए हों।

'कगार की आग' का अनुभव भी ऐसा ही विचित्र रहा। पेइचिंग विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक प्रो० ल्यु-को वान का पत्र आया कि यह तो शत प्रति शत उनके अपने परिवार की कथा है, मैंने कहाँ से लिखी? क्यों?

पिछले वर्ष के संघर्षों पर आधारित इस कथा पर कम तूफान न उठा। जहाँ एक ओर सैकड़ों की संख्या में पत्र थे, वहाँ ऐसी प्रतिक्रियाएँ भी कम उग्र नहीं, कि मैंने पर्वतीय जन जीवन का दुर्बल पक्ष उजागर कर अपराध किया है। तभी अकस्मात यशपालजी का पत्र मिला, जिस से सारा बवंडर हटा, नहीं तो शायद तब इसी कारण त्यागपत्र देना पड़ सकता था मुझे।

* पंजाबी, [illegible], मराठी, कोंकणी, उड़िया, कन्नड़, मलयालम

समग्र साहित्य निर्माण स्वयं करता है। यही आज मेरे सब से अच्छे उपन्यासों में गिना जाता है। जिसका* अनेक भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त तुर्की, चीनी, अंग्रेज़ी, नार्वेजियन आदि में भी रूपान्तर हुआ।

इन के लिखे जाने का सारा श्रेय भाई मनोहर श्याम जोशी को है। वे पीछे पड़-पड़ कर न लिखवाते तो शायद ये लिखे ही नहीं जाते कभी।

लेखन को मैं नितान्त वैयक्तिक साधना मानता हूँ। समूहों में, समूह की तरह जिया जा सकता है, परन्तु जहाँ तक व्यक्ति का अपना लिखना है, वह तो कहीं समाज से जुड़ने के बावजूद अकेली ही यात्रा है — बाहर से अधिक, भीतर की यात्रा।

सफल लेखक प्रायः कहीं व्यक्तिगत जीवन में असफल भी होता है। जो अंकगणित का अर्थशास्त्र राजनीति और व्यवसाय में अत्यधिक उपयोगी होता है, साहित्य, संस्कृति एवं अध्यात्म में पूर्ण रूपेण विफल रहता है।

साहित्य की शर्त बिना पूरी कीमत चुकाए पूरी नहीं होती। 'शार्टकट' के लिए यहाँ स्थान नहीं। मुझे लगता है, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की सोच में शायद यहीं कुछ त्रुटि रह गई। भौतिकतावाद के धुंध के कारण अनेक भ्रम छाए रहे, और आज भी उनसे मुक्ति की राह दीखती नहीं।

साहित्य एकान्त के अतिरिक्त पूर्ण समर्पण भी चाहता है कहीं। और निष्ठा भी। बिना इन के जो रचा जाता है, वह साहित्य कहलाने के बावजूद सचमुच में साहित्य नहीं होता। मुझे

लगता है, जो साहित्यकार कुछ कलमजीवी दे पाने में सफल होते हैं, अनेक मानवीय दुर्बलताएँ उनमें होते हुए भी, कुछ ऐसा होता, जो उन्हें हिमालय से भी ऊँचा उठा देता है। छोटा व्यक्तित्व कभी महान कृति की सृष्टि नहीं कर सकता।

लगता है, हमारे देश में अभी तक लेखन आजीविका का आधार नहीं रहा। पहला वह युग और था जब निराला, पन्त, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार जैसे साहित्यकार मुक्त-लेखन पर जी पाए। कुछ तो करना था, मुझे भी मैंने पत्रकारिता को ही अपना लिए। लगभग तीस साल तक उससे जूझता रहा। अरुचि उसके प्रति नहीं रही, परन्तु लेखन में पूरा समय न दे पाने की व्यथा हमेशा सालती रही। मुँह में रखे गर्म दूध की तरह, न उसे उगलना सम्भव था, न निगलना ही। स्वतंत्र होकर जीने का सुख, परतंत्र रहने के बाद ही आंका जा सकता है। चूँकि अब अन्तत: उस से मुक्त हूँ, इसलिए एक प्रकार की आश्वस्ति अनुभव करता हूँ। एक तरह की मुक्तता का भाव। मंजिल पर पहुँच कर ही सारी थकान जैसे अपना अहसास जगाती है उसी तरह मुझे भी सीमित समय में असीमित अर्जित करने लालसा बेचैन किए रखती है।

पढ़ने के लिए इतनी पुस्तकें पड़ी हैं, लिखने के लिए इतना अथाह, घूमने के लिए सारा संसार। अभी देखा ही क्या है? पढ़ा ही क्या है? लिखा ही क्या है? इस जनम की काल-अवधि भी कम लगती है।

पता नहीं क्यों बार-बार मुझे यही लगता रहा है कि लेखक की पहली और अन्तिम प्राथमिकता लेखन ही हो सकती है, और कुछ नहीं। परन्तु परिस्थितियों के दबाव के कारण लेखक की स्थिति सदैव इस से विपरीत ही रही है। बड़ी-बड़ी प्रतिभाएँ छोटे-छोटे कामों में उलझ कर स्वयं को नष्ट करती रही हैं। शायद इसी में सच का

साल का मामला । व्यवस्था को भी यही सब रास आता रहा। एक युवराज को यह संस्कार आज तक झेल नहीं पाया, यदि भूल से कुछ और हो जाते तो न जाने क्या होता।

चौबीस घण्टे के दिन-रात में लेखन के लिए कम से कम पच्चीस घण्टे चाहिए। परन्तु आज प्रायः सारी पीढ़ी इसे मात्र पार्ट टाइम जॉब की तरह जी रही है। भला नाखूनों से आदमी कितनी [illegible] रख सकता है।

'बन्धन रहित चिंतन', मुक्त लेखन की आवश्यक शर्त है। व्यवस्था के साथ कोई जीवन भर जुड़कर, चाहे या अनचाहे, जाने या अनजाने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उसका अभिन्न अंग बन कर, अपनी धार किस तरह कायम रख सकता है? इसलिए इतिहास के पटल पर उस देश का भाग्य सदा के लिए अधर पर ही अटका रह जाता है, जहाँ स्वतंत्र-चेतना के विकास की सम्भावना नहीं रहती। ऊर्ध्व गामी चिन्तन एवं जीवन का प्रभाव ही समस्त समाज को कहीं ऊर्ध्व की ओर ले जाने में सफल हो पाता है।

हमारे यहाँ, विशेषकर हिन्दी में ऐसी परिस्थितियाँ बन नहीं पाईं, शायद इसीलिए लेखन की गुणवत्ता में भी कहीं कुछ अन्तर रहा।

अब तक जितना लिख पाया, उससे असंतोष नहीं है। सच कहूँ तो सन्तोष का भी कोई कारण नहीं है। हमेशा यही लगता रहा और आज भी यही लगता है कि जो कुछ सचमुच मैं लिखना चाहता था, उसे लिखा जाना अभी शेष है। उसी शेष की प्रतीक्षा है।

मुक्त रूप से लेखन कार्य का अब एक वर्ष पूरा होने को है। यों तो दो-चार नई कृतियाँ और जुड़ गई हैं, मेरे नाम, पर इस समय जो लिख रहा हूँ, शायद वह मेरे लिए अधिक आत्म सन्तोष का कारण बन पाए। कुछ बड़े उपन्यासों पर कुछ काम किया था कभी, अब उन्हें पूरा करने का शायद कुछ अवकाश मिले।

←——कुछ यात्रा-वृत्तान्त हैं। अनेक संस्मरण। इन्हें सहेजना, समेटना है। चित्रकला के प्रति अभिरुचि रही, जिसके लिए समय दे पाना सम्भव न रहा कभी। अब शायद उसके प्रति भी कुछ ध्यान लगा सकूँ। पर्यटन का बड़ा शौक था, अब शायद उधर भी कुछ भटकूँ।

पता नहीं कितना कुछ पूरा होगा, कितना अधूरा रह जाएगा। मैं ने कहा था न कि यात्रा का ~~[illegible]~~ ही समापन होता है, दूसरी यात्रा का। इसलिए इन पड़ावों पर क्या ठिठकना? क्या रुकना? क्या जोड़ना, क्या घटाना? ये सारे अंकगणित के प्रश्न काल पर छोड़ना हितकर है। न सफलता का कोई अर्थ है, न विफलता का। दोनों अर्थपूर्ण होते हुए भी क्या स्वयं में अर्थहीन नहीं? □

[illegible signature]
4.5.94.

7/बी-2 हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स,
मयूर विहार, फेज-1 एक्स. दिल्ली-110091
Ph. 2252330

हिमांशु जोशी

7 / सी - 2 हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज - एक, दिल्ली - 110091 दूरभाष : 2252330

प्रिय किशोर जी,

पत्र मिला । दोनों पुस्तकें वी.पी.पी. से भेजने के लिए मैंने किताब घर प्रकाशन / दरियागंज, नई दिल्ली से कहा है । आशा है, वे आपको शीघ्र प्राप्त होंगी । यदि किसी कारण न मिल पाएँ तो मुझे अवगत करना ।

o

शोध का विषय अच्छा है । मेरे योग्य जो कार्य हो, निःसंकोच लिखना । अनिल का भी पत्र आया था, आपका उल्लेख था ।

o

शेष शुभ ।

सस्नेह,

(हिमांशु जोशी) दिनांक: 28 11 98

श्री किशोर पाटील,
द्वारा डॉ0 अनिल सालुंखे,
हिन्दी विभाग,
शिवाजी विश्वविद्यालय,
कोल्हापुर - 416004 (महाराष्ट्र)

MARCUS THRANES VEI 31
0[illegible] OSLO-6
NORWAY

प्रिय किशोर,

तुम्हारा 28.8.?? का पत्र दिल्ली के पते पर मिला था। इस बीच अनेक व्यस्तताओं में घिरे रहने के कारण यथासमय उत्तर न दे पाया। इसके लिए खेद है।

इंग्लैण्ड में उन्हीं 'छठा अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्व सम्मेलन' था। उस में शामिल होकर कल [illegible] लौटा हूँ। वहाँ मेरे दो बेटे रहते हैं। एक पत्रकार है, दूसरा [illegible]।
अपने आनेवालों के साथ-साथ [illegible] दस वर्षों से ओसलो (नार्वे) से दो पत्रिकाएं भी प्रकाशित करता हूँ। यहाँ अब इन्हीं पत्रिकाओं का समारोह है। 'शान्ति दूत' साहित्यिक पत्रिका है, 'आप्रवासी टाइम्स' समाचार [illegible]।

तुम्हारा शोध कार्य [illegible] जान कर प्रसन्नता हुई। प्रश्नों के उत्तर हैं —

1. पहाड़ों की [illegible] चोटियों में [illegible], [illegible], पीपल आदि के वृक्ष भी होते हैं।

(2) पहाड़ों की तराइयों में ([illegible]) [illegible] हैं। [illegible]

(3) मेरे साहित्य पर [illegible] [illegible], [illegible], [illegible] आदि अनेक विश्वविद्यालयों [illegible] हैं। [illegible] के [illegible]

[illegible] होगा।
इन का विवरण [illegible]
[illegible]
[illegible]

○

इस सीरीज 'बाल्मि पाणि' पर एक पुस्तक 'भारत सिंह की' [illegible] 'आहुता [illegible]' 'अमर शहीद, अश्फाकउल्ला' आदि। इन का विवरण किसी से ले लूंगा।

○

'ओ' ग्रेड प्राप्त करने के लिए मेरी प्रामाणिक बनाओ। डॉ. अनिल का क्या ठीक चल रहा होगा।

○

मेरी रचनाओं में जो विवरण / तथ्य आए हैं, वे सब प्रामाणिक हैं।

○

मैं 18 अक्तूबर को भारत लौटूंगा। सब को यथायोग्य कहें।

○

सस्नेह

[illegible]

20. 9. [illegible]

श्री किशोर आनंदराव पाटिल,
[illegible] पुर